एक युद्ध देश के भीतर! जनता के विरुद्ध!

स शिशिर

23 दिसम्बर को 22वें 'इण्टेलिजेंस ब्यूरो सेण्टेनरी एण्डाउमेण्ट लेक्चर' में गृह मन्त्री पी. चिदम्बरम ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि भारत को एक राष्ट्र के तौर पर जिन सुरक्षा चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है उनके मद्देनज़र गृह मन्त्रालय को दो हिस्सों में बाँट दिया जाना चाहिए। या तो गृह मन्त्रालय से अलग एक आंतरिक सुरक्षा का मन्त्रालय होना चाहिए जो देश के भीतर के ख़तरों से निपटे, या फिर बाहरी ख़तरों से निपटने के लिए एक अलग मन्त्रालय होना चाहिए ताकि गृह मन्त्रालय आंतरिक सुरक्षा पर विशेष ध्यान दे सके। पिछले कुछ महीनों से "वामपन्थी" उग्रवाद से निपटने के नाम पर देश के भीतर जनता के विरुद्ध जो युद्ध भारत की राज्यसत्ता ने छेड़ रखा है, उसके सन्दर्भ में यह एक ग़ौरतलब कथन है। लेकिन यह कोई नयी अवधारणा नहीं है जिसके जनक चिदम्बरम हों। यह अमेरिका की नक़ल है। अमेरिका में 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ होमलैण्ड सिक्योरिटी' की तर्ज़ पर भारतीय गृह मन्त्रालय को पुनर्गठित करने की योजना चिदम्बरम महोदय के दिमाग़ में है, जिसका काम कहने के लिए हर प्रकार के आतंकवाद का सफ़ाया होगा, लेकिन वास्तव में जिसका मुख्य काम भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की नीतियों से तबाह-बरबाद होने वाली जनता के हर क़िस्म के प्रतिरोध को कुचलना होगा। इस पुनर्गठित गृह मन्त्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय आतंकवाद-विरोधी केन्द्र (नेशनल काउण्टर टेररिज़्म सेण्टर-एनसीटीसी) की स्थापना की जाएगी - बिल्कुल वैसे ही जैसे कि अमेरिका में है। वस्तुत: अमेरिका में 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ होमलैण्ड सिक्योरिटी' के तहत हूबहू इसी नाम का एक आतंकवाद-विरोधी केन्द्र है। लेकिन यह कोई इत्तेफ़ाक़ नहीं है और न ही इस पर ताज्जुब करने की ज़रूरत है। भारत के रक्षा ढाँचे और ख़ास तौर पर आंतरिक रक्षा ढाँचे को एक नये साँचे में ढालने का जो काम चल रहा है उसके लिए भारत के शासक अमेरिकी गुप्तचर एजेंसियों से परामर्श से लेकर प्रशिक्षण तक ले रहे हैं। इस शिक्षण-प्रशिक्षण का ही नतीजा है कि एक ओर छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड और बिहार से माओवादियों के सफ़ाए के लिए 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' शुरू कर दिया गया है, तो वहीं दूसरी ओर, चिदम्बरम ने अपने हालिया बयान में कहा है कि माओवादी चुनौती से निपटने के लिए सैन्य तौर-तरीक़ों से ज़्यादा इण्टेलिजेंस एजेंसियों और वैचारिक-मनोवैज्ञानिक तौर-तरीक़ों का उपयोग किया जायेगा।

स्पष्ट है कि भारतीय राज्यसत्ता आने वाले समय के जनज्वारों से निपटने के लिए अपने आपको चाक-चौबन्द करने की हर सम्भव कोशिश में लगी हुई है। चिदम्बरम इस मामले में एक 'थिंक टैंक' और 'मैन ऑफ़ ऐक्शन', दोनों की ही भूमिका को बखूबी निभा रहे हैं। चिदम्बरम द्वारा आंतरिक सुरक्षा के लिए अलग मन्त्रालय का यह प्रस्ताव उनके द्वारा उन तमाम प्रस्तावों और घोषणाओं की शृंखला में ही हैं जो वे 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' पर शुरू हुई चर्चा के समय से दे रहे हैं। इसके पहले उन्होंने श्रीनगर में एक सम्मेलन में कहा था कि सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून में जल्दी ही संशोधन करके उसे मन्त्रिमण्डल के समक्ष पेश किया जायेगा और संशोधित क़ानून महज़ उत्तर-पूर्व के राज्यों और जम्मू-कश्मीर में ही लागू नहीं होगा, बल्कि पूरे देश में लागू होगा।

कहने के लिए आंतरिक सुरक्षा मशीनरी को चाक-चौबन्द करने के लिए यह सारी कसरत माओवादी ख़तरे से निपटने के लिए की जा रही है। लेकिन जैसा कि अरुंधति राय ने हाल ही में 'गार्डियन' में प्रकाशित अपने एक लेख में कहा है कि निश्चित रूप से छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा, और कुछ अन्य प्रदेशों के सीमावर्ती क्षेत्रों में माओवादियों की जो उपस्थिति है उससे निपटने के लिए जो अर्द्धसैनिक बल और तमाम क़िस्म के विशेष बल लगाए गए हैं, वे काफ़ी हैं और माओवादियों की मिलीशिया से शारीरिक और तकनीकी दोनों ही तौर पर अच्छी स्थिति में हैं। ऐसे में, भारतीय सरकार की सैन्य और गुप्तचर तैयारियों को महज़ माओवादी चुनौती के जवाब के रूप में नहीं देखा जा सकता है। इस भारी-भरकम और सोची-समझी तैयारी के पीछे भारतीय शासक वर्गों और उनकी राज्यसत्ता की दूरगामी सोच है।

सरकार द्वारा आतंकवाद और नक्सलवाद के नाम पर जो पूरी मुहिम शुरू की गयी है उसके कई पहलू हैं। पहली बात तो यह है कि सरकार जिन चीज़ों को आतंकवाद बताकर उनके दमन की तैयारी कर रही है उन्हें किस दृष्टिकोण से देखा जाये? सबसे पहले यह समझ लेना ज़रूरी है कि हर

प्रकार का आतंकवाद; चाहे वह धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवाद हो या फिर क्रान्तिवादी आतंकवाद ("वामपन्थी दुस्साहसवाद"), राजकीय आतंकवाद की एक प्रतिक्रिया के तौर पर ही पैदा होता है। पूरी पूँजीवादी व्यवस्था और सत्ता अपनी लूट-खसोट और शोषण-उत्पीड़न की आर्थिक नीति और राजनीति को चलाने के लिए अपनी पुलिस, फ़ौज, नौकरशाही और न्याय-व्यवस्था के ज़रिए बल-प्रयोग करती है। राज्यसत्ता द्वारा इस दमन के प्रतिरोध के रूप में और विकल्प के रूप में किसी क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्ति की ग़ैर-मौजूदगी में रैडिकल मध्यवर्ग का एक हिस्सा आतंकवाद की राजनीति का मार्ग चुन लेता है जिसे जनता के सबसे बुरी तरह तबाह होने वाले हताश और क्रुद्ध हिस्से से समर्थन हासिल होता है। राज्यसत्ता द्वारा दमन कहीं पर आम ग़रीब जनता की प्रत्यक्ष आर्थिक लूट का रूप लेता है तो कहीं "परिधिगत" राष्ट्रीयताओं और दमित जातियों की लूट और उत्पीड़न का। प्रतिक्रियास्वरूप ही विभिन्न प्रकार के आतंकवाद जन्म लेते हैं। ऐसे में राज्यसत्ता बल-प्रयोग से आतंकवाद की इस समस्या का समाधान नहीं कर सकती है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्यों का पिछले चार दशकों का इतिहास इस बात का गवाह है कि जनता का इस क़िस्म का प्रतिरोध अगर विजयी नहीं हो सकता तो समाप्त भी नहीं हो सकता। यह इस व्यवस्था के ढाँचागत संकट के तौर पर लगातार मौजूद रहता है और सरकार चाहे जितना भी पुख़्ता इन्तज़ाम कर ले पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर रहते हुए इसका ख़ात्मा नहीं हो सकता। आतंकवाद कहीं भी अगर ख़त्म हुआ है तो व्यवस्थागत परिवर्तन से या फिर अपने ही आंतरिक अन्तरविरोधों के चलते। सैन्य दमन कभी इसका ख़ात्मा नहीं कर सका है। निश्चित रूप से किसी भी क़िस्म की आतंकवादी राजनीति का समर्थन करने का प्रश्न ही नहीं उठता, चाहे वह क्रान्तिवादी ही क्यों न हो। लेकिन स्पष्ट है कि इस रुझान के ख़िलाफ़ वैचारिक-राजनीतिक संघर्ष का रास्ता ही अख़्तियार किया जा सकता है। ऐसे में व्यवस्था अगर इस राजनीति को मानने वाले लोगों के साथ अपराधियों जैसा व्यवहार करती है और उन्हें बुनियादी मानवाधिकारों, जैसे न्याय का अधिकार, राजनीतिक क़ैदी का दर्जा दिये जाने का अधिकार आदि, से भी वंचित करती है तो निस्सन्देह इसका विरोध किया जाना चाहिए।

एक अन्य विचारणीय पहलू यह है कि जब भी व्यवस्था आतंकवाद के दमन के नाम पर ऐसा कोई विशाल सैन्य अभियान शुरू करती है तो इसके निशाने पर अपने-आप ही, कोई चाहे न चाहे आम जनता और नागरिक आ जाते हैं। औपनिवेशिक काल से ही हमारे देश में सशस्त्र बलों का प्रशिक्षण और ढाँचा इस तरह से तैयार किया गया है कि वे ऐसे किसी भी अभियान के दौरान आम जनता को अपने बर्बर दमन का शिकार ज़रूर बनाते हैं। जिन राज्यों में ऐसे अभियान चलाये गये हैं या जारी हैं, या जहाँ सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून लागू है, वहाँ का इतिहास इस सच्चाई की चीख-चीखकर गवाही देता है। चाहे वह कश्मीर हो, मणिपुर, नगालैण्ड, असम, मिज़ोरम हों, या हाल ही में लालगढ़, नन्दीग्राम और सिंगूर हों, या फिर छत्तीसगढ़। हर जगह हम देख चुके हैं कि ऐसे सैन्य अभियानों के दौरान अर्द्धसैनिक बलों व अन्य सशस्त्र बलों के दमन का सर्वाधिक सामना आम बेक़सूर जनता को करना पड़ता है। ऐसे में हम मानकर चल सकते हैं कि 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' या 'ऑपरेशन रेड ब्लड' के दौरान भी यह आम ग़रीब जनता ही होगी जिसे सबसे भयंकर और बर्बर दमन का सामना करना होगा। 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' के दौरान सरकार ने हेलिकॉप्टरों को भी लगाने का फ़ैसला किया है और उन्हें "आत्मरक्षा" में गोलीबारी करने का अधिकार भी दिया है - यानी वही अधिकार जो सरकार जनता को नहीं देती है! समझा जा सकता है कि यह कैसी "आत्मरक्षा" होगी!

सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो भारतीय राज्यसत्ता की इस तैयारी के मद्देनज़र समझने की ज़रूरत है वह यह है कि जिन इलाक़ों में यह सैन्य अभियान शुरू किया गया है वे प्राकृतिक सम्पदा से समृद्ध इलाक़े हैं। समरेन्द्र दास व फ़ेलिक्स पैडेल अपनी जल्दी ही छपने वाली पुस्तक 'ऑउट ऑफ़ दिस अर्थ: ईस्ट इण्डिया आदिवासीज़ एण्ड दि एल्यूमीनियम कार्टेल' में बताते हैं कि अकेले उड़ीसा में मौजूद बॉक्साइट की क़ीमत 2.27 खरब डॉलर है! और यह 2004 की क़ीमत है, आज उसकी क़ीमत क़रीब 4 खरब डॉलर हो चुकी है। हमने अभी अन्य खनिजों और धातुओं की क़ीमत की बात नहीं की है। उड़ीसा की नियामगिरि पहाड़ी को, जिसके नीचे ये बॉक्साइट व अन्य प्राकृतिक संसाधन दबे हैं, वेदान्ता नामक एक खनन कम्पनी को बेच दिया गया है। ग़ौरतलब है कि 2004 में वित्त मन्त्री बनने से पहले तक पी. चिदम्बरम इस कम्पनी के एक ग़ैर-कार्यकारी निदेशक थे। अगर छत्तीसगढ़, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि के उन तमाम इलाक़ों के प्राकृतिक संसाधनों की क़ीमत को जोड़ दिया जाये तो एक साइण्टिफ़िक कैल्क्यूलेटर का सॉफ़्टवेयर भी हैंग कर सकता है। इन इलाक़ों में मुख्य तौर पर आदिवासी आबादी रहती है जो आज़ादी के 62 वर्षों के इतिहास में पिछड़ते-पिछड़ते परिधि से भी बाहर हो चुकी है। यह देश की जनता का सबसे ग़रीब हिस्सा है जिसकी ग़रीबी और बदहाली की तुलना अफ़्रीका के सबसे ग़रीब देशों की सबसे ग़रीब जनता की स्थितियों से की जा सकती है। पूँजीवादी विकास का कोई क़तरा 'ट्रिकल डाउन' करके इस आबादी तक नहीं पहुँचा है और इसकी तादाद करोड़ों में है। देश का संविधान इन आदिवासियों को अपनी जगह-ज़मीन पर अधिकार देता है लेकिन यह सिर्फ़ काग़ज़ी बात है। देश के "सबसे भले इन्सान" प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने हाल ही में सेना और गुप्तचर एजेंसियों की एक बैठक में कहा कि इन इलाक़ों में ज़मीन का अधिग्रहण करने में सबसे बड़ी बाधा इन आदिवासियों का प्रतिरोध और माओवादी आन्दोलन है। इससे भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश

पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है और इस बाधा को हटाने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। 2006 में ही मनमोहन सिंह ने कहा था कि नक्सलवाद देश की सुरक्षा को सबसे बड़ा आंतरिक ख़तरा है। अब समझा जा सकता है कि वे किस देश की सुरक्षा की बात कर रहे थे। उनके देश के नागरिकों में टाटा, बिड़ला, मित्तल, जिन्दल, वेदान्ता, और ट्विनस्टार आते हैं, इस देश की ग़रीब जनता नहीं। इन कॉरपोरेट घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए इस देश की अकूत प्राकृतिक सम्पदा को लूट का खुला चरागाह बना देने के लिए सरकार को आदिवासियों का दमन करना ही होगा। खुद ग्रामीण विकास मन्त्रालय के तहत गठित एक कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि भारत के इन आदिवासी इलाक़ों में सरकार द्वारा किया जा रहा भूमि अधिग्रहण कोलम्बस के द्वारा ज़मीन पर क़ब्ज़े के बाद आधुनिक विश्व इतिहास की सबसे बड़ी ज़मीन की लूट (लैण्ड ग्रैब) है। अरुंधति राय ने इसे 21वीं सदी का 'गोल्ड रश' कहा है। ज़ाहिर है कि इस दमन को अंजाम देने के लिए उन्हें एक बहाना चाहिए था और वह बहाना माओवाद के रूप में उन्हें मिल गया। ग़ौरतलब है कि माओवादी इन इलाक़ों में आदिवासियों के भूमि अधिग्रहण के खिलाफ़ प्रतिरोध संघर्ष में अगुवाई कर रहे हैं। यही कारण है कि इन इलाक़ों में उन्हें आदिवासियों का समर्थन भी प्राप्त है। ऐसे में उन्हें बहाना बनाना सबसे आसान था। आज इन राज्यों में प्राकृतिक और मानव सम्पदा के दोहन के लिए सरकार जनता के प्रतिरोध को कुचलने के वास्ते सैन्य अभियानों का संचालन कर रही है, तरह-तरह के क़ानून बना रही है, तरह-तरह के विशेष सशस्त्र बल तैयार कर रही है। लेकिन इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि उसका यह निरंकुश चरित्र इन्हीं राज्यों, इस विशेष सैन्य अभियान, आदिवासी जनता, और नक्सलवाद तक ही सीमित रहने वाला है।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमण ने पद से हटने के बाद कहा था कि भारतीय सत्ता जिन नवउदारवादी, भूमण्डलीकरण, निजीकरण की नीतियों को लागू कर रही है उनके अमल के लिए सत्ता का निरंकुश सर्वसत्तावादी होना ज़रूरी होगा। यह टिप्पणी बहुत ही मार्के की बात कहती है। 1990 में नरसिम्हा राव सरकार द्वारा भूमण्डलीकरण की नीतियों की भारत में खुले तौर पर शुरुआत के बाद से अब तक का बीस वर्षों का इतिहास इस बात का गवाह है कि भारतीय पूँजीवादी राज्यसत्ता अधिक से अधिक ग़ैर-जनतान्त्रिक और तानाशाही रंग-रूप अख़्तियार करती गयी है। यही वह पूरा समय था जिसमें टाडा, पोटा, मकोका, छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा अधिनियम, आतंकवाद निरोधक क़ानून, आदि जैसे तमाम क़ानून अस्तित्त्व में आये हैं जिन्होंने भारतीय जनता से एक-एक करके तमाम बुनियादी जनवादी अधिकार छीनने का काम किया है और सरकार को ऐसे औज़ारों से लैस किया है जो उसके दमन के पाटे के रास्ते में आने वाली किसी भी बाधा का क़ानूनी पचड़े के बिना ख़ात्मा कर दें। आज़ादी के 62 वर्ष बीतने के बाद आम मेहनतकश जनता के समक्ष यह बात साफ़ हो चुकी है कि यह व्यवस्था उन्हें कुछ नहीं दे सकती है। आज़ादी के छह दशक बाद भी देश की 77 फ़ीसदी आबादी 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर जी रही है, ऊपर के दस फ़ीसदी अमीरज़ादों के पास देश की कुल सम्पत्ति का 85 फ़ीसदी हिस्सा है जबकि नीचे की 60 फ़ीसदी जनता के पास महज़ 2 प्रतिशत हिस्सा है, आबादी का ऊपर का 0.01 प्रतिशत हिस्सा ऐसा है जिसकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक है। स्पष्ट है कि धनी और ग़रीब के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है। आज़ादी के बाद से देश के ऊपर के 22 पूँजीपति घरानों की परिसम्पत्ति में 500 गुने से भी अधिक की वृद्धि हो चुकी है, देश के भ्रष्टाचारियों के 1456 अरब डॉलर स्विस बैंकों में जमा हैं जो कि भारत के सकल घरेलू उत्पाद से भी ज़्यादा है। दूसरी ओर देश की 18 करोड़ ग़रीब आबादी के पास रहने को घर भी नहीं है और अन्य 18 करोड़ टूटी-फूटी झुग्गियों में रहते हैं। 63 फ़ीसदी बच्चे प्राय: भूखे सोते हैं और 46 प्रतिशत भारतीय बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। आज़ादी के इतने समय बीत जाने के बाद 42 प्रतिशत घरों में बिजली नहीं है और 80 प्रतिशत लोगों को सुरक्षित पीने का पानी तक मयस्सर नहीं है। ऐसे आँकड़ों से बहुत से पन्ने रंगे जा सकते हैं।

सरकार में बैठे मन्त्री और उनके 'थिंक टैंक' भी अच्छी तरह से जानते हैं कि जिन आर्थिक नीतियों को लागू करने के लिए उन्होंने तैयारी कर रखी है, वे इस दुर्दशा को और भयंकर रूप देंगी। ग़रीबों के लिए जीवन और भी अधिक मुश्किल और नारकीय बनता जाएगा। धनी और ग़रीब के बीच की खाई लगातार बढ़ेगी। लोग अपनी जगह-ज़मीन से और तेज़ी से उजड़ेंगे, ग़रीब और निम्न-मध्यम किसान कृषि में पूँजी की दख़ल के और बढ़ने के साथ तबाह-बर्बाद होकर सर्वहाराओं की क़तार में शामिल होंगे और साथ ही सरकार तमाम आदिवासियों और मूलनिवासियों को कॉरपोरेट घरानों के लिए भूमि अधिग्रहण करने के लिए उन्हें उनकी ज़मीन से बलपूर्वक उजाड़ेगी। 1997 से अब तक जिन 2 लाख किसानों ने आत्महत्या की है, वे मुख्य तौर पर इन्हीं उजड़े किसानों में से थे। बढ़ती महँगाई, ग़रीब और बेरोज़गार शहरी औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के लिए जीवन को और कठिन बनाती जाएगी। एक-एक करके सरकार बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को भी किनारे लगा देगी और पूँजीपतियों के मुनाफ़े के रास्ते में खड़े हर बैरियर और स्पीड ब्रेकर को एक-एक करके हटाती जायेगी। जो श्रम क़ानून हैं वे भी आज लागू नहीं होते जिसके कारण इस देश के मज़दूरों का 93 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में पाशविक स्थितियों में काम करता है। इन क़ानूनों के ख़त्म होने के बाद स्थिति क्या होगी इसका अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। छँटनी-बेरोज़गारी, ग़रीबी, सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा के दबाव में मज़दूर आबादी भी तेज़ी

से बग़ावत की तरफ़ बढ़ेगी। हाल में हुए तमाम जुझारू मज़दूर संघर्षों में हमने मज़दूर आबादी के बीच सुलग रहे असन्तोष और गुस्से को देखा, चाहे वह गुड़गाँव में लाखों मज़दूरों का सड़क पर उतर आना हो, या पंजाब में मज़दूरों के गुस्से का विस्फ़ोट। भूमण्डलीकरण के इस दौर में पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में रहते हुए भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास और कोई विकल्प भी नहीं है। और अगर यह एकमात्र विकल्प है तो ज़ाहिर है कि इसे लागू करना ही पड़ेगा। और अगर यह लागू किया जाता है तो नतीजे वही होंगे जिनका हमने ऊपर ज़िक्र किया है। यही बात चिदम्बरम और मनमोहन सिंह समेत इस व्यवस्था के सारे पैरोकार भली-भाँति समझते हैं। यही कारण है कि पूँजीवादी राज्यसत्ता अपने आप को हर क़िस्म के ऐसे हरबे-हथियार से लैस करने में अभी से लग गयी है जो भावी जनविस्फ़ोटों से निपटने में उसके काम आ सकें। यही कारण है कि तरह-तरह के नये क़ानून बनाए जा रहे हैं, नए-नए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त विशेष सशस्त्र बल बनाए जा रहे हैं, विदेशी गुप्तचर एजेंसियों और सेनाओं से प्रशिक्षण प्राप्त किया जा रहा है।

आज पूँजीवादी लूट और भूमि अधिग्रहण के विरुद्ध जो भी जनविस्फ़ोट हो रहे हैं वे स्वत:स्फ़ूर्त हैं और किसी स्पष्ट वैचारिक-राजनीतिक दिशा के अभाव में वे आतंकवाद के गड्ढे में जा रहे हैं। उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश आदि के आदिवासी अपने जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रहे हैं। उनके पास उनकी ज़मीन के सिवा और कुछ भी नहीं है। अगर यह भी उनसे छिनती है तो उनके पास जीवित रहने के लिए कुछ भी नहीं बचेगा। उजड़कर औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की क़तार में शामिल होने के लिए न तो वे मानसिक तौर पर तैयार हैं और न ही भौतिक तौर पर। दूसरी बात यह कि भारत के औद्योगिक ढाँचे में भी इतनी क्षमता नहीं है कि इतनी बड़ी आबादी को खपा सके। ऐसे में वे अपने अस्तित्त्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। निश्चित तौर पर यह लड़ाई वे पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ रहे हैं। इसकी प्रकृति रक्षात्मक है और इसे जीत पाना सम्भव नहीं है। लेकिन उनके लिए यही जीवन-मरण की लड़ाई है और वे इसे छोड़ने वाले नहीं हैं। मज़दूरों के बीच होने वाले विस्फ़ोट भी बिखरे हुए हैं और उनके पास भी कोई दिशा नहीं है। पूरा मज़दूर आन्दोलन अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद की चपेट में गोल-गोल घूम रहा है। कुछ आशान्वित करने वाले प्रयासों को छोड़ दें तो फ़िलहाल नयी राह निकालने वाला कोई आन्दोलन या संघर्ष नज़र नहीं आ रहा है। लेकिन मज़दूर आबादी में लावे की तरह उबलता गुस्सा छोटे-छोटे मुद्दों पर भी उमड़कर सड़कों पर चला आ रहा है। अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों की एक भारी आबादी (कुल मज़दूर आबादी का क़रीब 93 प्रतिशत) लगातार राह टटोल रही है और समझौतापरस्त संशोधनवादी-अर्थवादी ट्रेडयूनियनों के विषैले प्रभाव से सापेक्षिक रूप से मुक्त है। छात्रों-युवाओं के बीच भी महँगी होती शिक्षा और बढ़ती बेरोज़गारी को लेकर भयंकर असन्तोष है और वह आने वाले समय में फूटेगा। ऐसे में यह कहना अतार्किक और अवैज्ञानिक होगा कि दिशाहीनता और विकल्पहीनता की यह स्थिति लगातार बनी रहेगी। ऐसे में, लम्बी, उथल-पुथल, उठा-पटक और सफलता-असफलता से भरी प्रक्रिया के बीच से एक निश्चित राजनीतिक दिशा और समझ से लैस एक परिपक्व राजनीतिक नेतृत्व उभरने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता है। बल्कि कहना चाहिए कि ऐतिहासिक तौर पर यह अवश्यंभावी लगता है।

स्पष्ट है कि भारत का शासक वर्ग और उसकी राज्यसत्ता आतंकवाद के सफ़ाये के नाम पर आने वाले दिनों की इसी सम्भावना से निपटने और क्रान्तिकारी जनविस्फ़ोटों को कुचलने के लिए खुद को तैयार कर रहा है। इसके लिए ज़रूरत पड़ी तो वह अघोषित तौर पर एक आपातकाल भी देश की जनता पर थोप सकता है, जैसा कि सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून में संशोधन कर उसे पूरे देश पर लागू करने और आंतरिक सुरक्षा के लिए अलग मन्त्रालय बनाने के चिदम्बरम के बयान से ज़ाहिर हो रहा है। इसकी शुरुआत पहले उन इलाक़ों से की जा रही है जहाँ फिलहाल भारतीय पूँजीवादी राज्यसत्ता की लूट के रास्ते में जनप्रतिरोध आ रहा है। सभी जनवादी और प्रगतिशील छात्रों, युवाओं, और बुद्धिजीवियों को मेहनतकश अवाम के साथ मिलकर अघोषित आपातकाल लागू करने की इस साज़िश के ख़िलाफ़ संघर्ष करना होगा। इसकी चपेट में इस देश का आम मेहनतकश अवाम तो आयेगा ही, लेकिन साथ ही उनके पक्ष की बात करने वाला हर इन्साफ़पसन्द नागरिक भी आयेगा। इसलिए यह जनता के समस्त जनवादी अधिकारों और संघर्षों के बाद अर्जित जनवादी 'स्पेस' पर भी हमला है। चिदम्बरम बुद्धिजीवियों को "आतंकवाद के प्रोत्साहन" के लिए लगातार कोस रहा है। सन्देश साफ़ है- या तो तुम हमारे साथ हो, या फिर तुम आतंकवादी हो! ऐसे में, हर सोचने वाले विवेकवान नौजवान और नागरिक को अपना पक्ष तय करने की ज़रूरत है। वह मुनाफ़े की हवस में देश की जनता और प्रकृति को तबाह कर देने पर तुली इस व्यवस्था के साथ है या फिर जनता के साथ।

●

"हमने किसी ऐसी उम्दा चीज़ का लुत्फ़ न कभी उठाया है और न ही कभी उठा पायेंगे, जिसमें कोई श्रम न लगा हो। चूँकि सभी उम्दा चीज़ें श्रम द्वारा पैदा की जाती हैं, इसलिए इसका सीधा निष्कर्ष यह है कि जिन्होंने श्रम करके चीज़ों को पैदा किया है, वे ही हर अधिकार के हक़दार होते हैं। मगर युगों से दुनिया में यही चला आ रहा है कि श्रम कोई करता है और फल के बड़े हिस्से का लाभ दूसरे उठाते हैं। यह ग़लत है और इसे नहीं चलने देना चाहिये।...."

– अब्राहम लिंकन